संपादकीय

दिल्ली दंगा : आशंका से अनहोनी तक

दिल्ली के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में हुए दंगे में जानमाल का भारी नुकसान हुआ है। जब से नागरिकता संशोधन कानून बना है, तभी से धरना-प्रदर्शन, जुलूस आदि के साथ न्यायालय में इसके विरुद्ध परिवाद चल रहा है। इस दरम्यान शुरुआती सड़क जाम और प्रदर्शन में आगजनी से कुछ क्षति हुई थी और कई लोग घायल हुए थे। उसके बाद अकेले उत्तर प्रदेश में प्रदर्शन और उसे रोकने के क्रम में बीसियों लोगों की जानें गईं। सरकार ने दंगाइयों को देखते ही गोली मारने के आदेश दिए और चिह्नित दंगाइयों से सार्वजनिक संपत्ति के नुकसान की भरपाई करने की घोषणा की। लेकिन इधर चाक-चौबंद सुरक्षा व्यवस्था वाली राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली में 23 से 25 फरवरी तक लगातार लूटपाट, आगजनी, मारकाट की जो भयावह घटनाएँ सामने आईं, वह दिल्ली के दिल से मेल नहीं खातीं। छिटपुट घटनाओं को छोड़ दिया जाए तो पिछले तीन दशकों में ऐसा सांप्रदायिक तनाव नहीं भड़का था। पहले से रखी जा रही सतर्कता के बावजूद इस बार यह सब बेखौफ घटित हुआ और वह भी तब, जब अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रंप और उनका परिवार छत्तीस घंटे के लिए भारत दौरे पर आया था। यों यहीं नहीं, विरोध प्रदर्शन करने वालों की हर जगह कोशिश होती है कि जब प्रमुख हस्तियाँ बतौर मेहमान आगंतुक हों, तो ठीक उसी दौरान ध्यान खींचने और अंतर्राष्ट्रीय शक्ल-स्वरूप देने एवं सुर्खियाँ बटोरने के लिए विरोध को चरम पर ले जाया जाए। गौरतलब है कि अब तक अड़तालीस शव बरामद हो चुके हैं और अभी भी जहाँ-तहाँ जले, दबे व फेंके होने की आशंका व्याप्त है। दर्जनों लोग अपने परिजनों को ढूँढ़ते फिर रहे हैं तो दूसरी ओर, कई लाशों की शिनाख्त नहीं हो पाई है। घायलों की रिकार्ड की गई संख्या 350 के पार है, जबकि हल्के चोटिलों की संख्या तो हजार से ऊपर है, जो अब बताना नहीं चाहते कि चोटिल भी हुए थे। सैकड़ों परिवार अपने भग्न-जले घरबार से दूर विस्थापित रहने को मजबूर हैं।

प्रथमदृष्ट्या शाहीन बाग के घटनाक्रम से अलग-परे, इस दंगे की तात्कालिक पृष्ठभूमि 22 फरवरी की शाम से बनती दिखी, जब जाफराबाद मेट्रो स्टेशन के पास नागरिकता संशोधन अधिनियम के विरोध में महिलाओं का एक समूह एकत्र होकर सड़क जाम करने लगा, धीरे-धीरे उनकी तादाद बढ़ी और सुबह होते-होते तीन हजार लोग इकट्ठे हो गए, जिनमें पुरुषों की संख्या भी अच्छी-खासी हो गई। उसी दिन सीएए समर्थक गुट भी नजदीक पहुँचने में सफल हो गया और देखते-ही-देखते दोनों तरफ से नारेबाजी का आदान-प्रदान होने लगा। इस दौरान पुलिस एक तो सीमित संख्या में होने की वजह से और दूसरा, ज्यादा बल प्रयोग न करने के कारण दोनों पक्षों को द्वेषपूर्ण ढंग से नजदीक आने से रोकने में विफल रही। फिर यह उग्र नारेबाजी के बीच पथराव और पुलिस से टकराव में तब्दील हुआ। घायल एसीपी अनुज कुमार ने कहा है कि महिलाओं के नेतृत्व में बीस-पचीस हजार सीएए विरोधियों पर पुलिस की दो-तीन कंपनियों द्वारा बल प्रयोग या गोली चलाने पर भीड़ के हत्थे चढ़ जाने का पूरा अंदेशा था और विरोधियों को भी भारी नुकसान झेलना पड़ता। नतीजा यह हुआ कि पुलिस अधिकारी भी अपनी जाान किसी तरह बचा पाए, हालाँकि एक पुलिसकर्मी को अपनी जान गवाँनी पड़ी, वह भी रिपोर्ट के मुताबिक गोली का शिकार होने की वजह से। आखिर प्रदर्शन में वैध-अवैध हथियार से गोली क्यों चलाई गई? खैर, यही बड़ी नाकामी भी साबित हुई कि दोनों पक्षों के बीच जो एक सामान्य दूरी रखनी चाहिए थी, वह नहीं रह पाई, जिसके कारण न केवल घटना-स्थल पर, बल्कि गली-मुहल्ले में भी गोलबंदी तेज होने लगी; पत्थरबाजी और फिर लूटपाट, आगजनी, मारपीट-मारकाट का जो सिलसिला शुरु हुआ, वह अंततः भयावह नुकसान तक पहुँचा।

दोनों पक्षों में मुठभेड़ की प्रकृति देखकर लगता है कि संबंधित पक्षों ने किसी प्रत्याशित-अप्रत्याशित दंगों में भिड़ने के लिए कुछ-कुछ आंतरिक इंतजाम कर रखा था; लेकिन जिन्हें हर स्थिति से निबटने के लिए तैयार रहना चाहिए था, बस उसी की तैयारी फलितार्थ होते नहीं दिखी। न तो शासन-प्रशासन, न पुलिस बल और न खुफिया एजेंसियों को इसकी भनक लग सकी, क्योंकि यह तो माना नहीं जा सकता कि वे यह सब जानकर भी अनजान बने बैठे थे। आवश्यक लगने पर पाँच-दस हजार सुरक्षा बल के जवान दिल्ली में एकआध घंटा में उतार देना मुश्किल नहीं है। दिल्ली पुलिस के बीट कांस्टेबलों के जिम्मे दिल्ली के हर गली-मुहल्ले बँटे और सुपुर्द हैं। उनके मुहल्ले वालों से ताल्लुकात होते हैं, जिनके माध्यम से उन्हें अच्छे-बुरे की जानकारी मिलती है। अस्तु, विरोध प्रदर्शन करने वालों ने थोड़ी-बहुत आगजनी, हिंसा की होती तो बात नहीं बिगड़ती, पर जब ज्यादा ही उत्पात मचने लगा, मीडियाकर्मियों के साथ बेकसूर लोग उसके आगोश में आने लगे तो मामला हाथ से फिसलने लगा। इतने दिनों से चल रहे विरोध-प्रदर्शन को गंभीरता से लेने में सरकार ने भी कोताही बरती; न तो संबंधित पक्षों से बातचीत करना उचित समझा और न ही उनकी आशंकाओं के निराकरण के लिए ठोस प्रयास किए। ट्रंप की यात्रा पर निगरानी रखने के साथ मुस्लिम बहुल इलाकों में पूरी सावधानी और पूरा फोर्स तैनात रखना चाहिए था। अर्द्ध सैनिक बलों की पर्याप्त संख्या और आपात स्थिति में सेना बुलाने में भी संकोच-विलंब नहीं करना चाहिए था, क्योंकि यह सब अंततः सरकार के माथे पर ही कलंक है। अपने रुख पर कायम रहना एक बात है, पर कोई भी वैसी समस्या जो विकराल रूप धारण कर सकती है, उस पर कार्रवाई करना सरकार की जिम्मेवारी बनती है। उच्चतम न्यायालय की पहल पर हुई बातचीत बेशक बेनतीजा रही, पर इससे सकारात्मक संदेश तो गया ही। जो लोग विरोध-प्रदर्शन में सम्मिलित हैं और जो लोग इन रास्तों से नियमित या कभी-कभार आते-जाते हैं, वे सब परेशान हैं। प्रशासन को भी इन प्रदर्शनों को संभालने में काफी मशक्कत करनी पड़ती है।

यह शोचनीय अवश्य है कि ऐसी अपरिहार्य स्थिति कैसे बन गई कि सब कुछ जानते-समझते हुए भी वह दंगे में आकर तब्दील हुए बिना नहीं रह सकी। दंगे में जो लोग सीधे या परोक्षतः संलिप्त हैं, वे सिद्धहस्त भी हैं और जिनकी भूमिका कम है, वे बेमौत मारे गए हैं।

बहरहाल, जिन लोगों की जानें गई हैं, उसकी भरपाई तो नहीं हो सकती, लेकिन जो परिवार अपने परिजनों के पोस्टमार्टम के लिए तीन-तीन, चार-चार दिन से धक्के खा रहे हैं, उन्हें त्वरित सहायता क्यों नहीं दी जा रही है? क्या व्यवस्था इतनी लुँज-पुँज और प्रक्रिया इतनी जटिल है कि चालीस-पचास लोगों के परिजनों को दिल्ली जैसे बड़े शहर में चार-चार दिन घोर विपत्ति के क्षण में भी शव-परीक्षण के लिए भटकना पड़े? दूसरे अस्पतालों से सहयोग लेकर इस कार्य को कुछएक घंटों में निबटाया जा सकता है, पर दुर्भाग्य से इस पर ध्यान नहीं है। जो लोग बुरी तरह घायल हैं और जिनका जन-धन सब कुछ चौपट हो गया, उनकी खोज-खबर लेने की आवश्यकता है। सरकार ने इस दिशा में आर्थिक सहयोग की जो प्रशंसनीय योजना घोषित की है, वह तत्परता से ठीक-ठीक कार्यान्वित हो सके और जरूरतमंदों के पुनर्वास के लिए युद्ध स्तर पर कार्य किए जाएँ - यह सुनिश्चित होना चाहिए; नहीं तो लोग मरकर-मरकर अपना कुछ जुगाड़ तो करेंगे ही, पर ऐसे में बड़े नाम वाले सरकारी-गैरसरकारी संस्थाओं के रहने का औचित्य क्या है? जो टल सकता था, वह टल नहीं पाया, इसलिए अब कम-से-कम जनजीवन को पटरी पर लाने में ढीलापन बर्दाश्त नहीं होना चाहिए। पंजाब के पूर्व मुख्य मंत्री और अकाली दल के मुखिया प्रकाश सिंह बादल ने कहा है कि भारत में लोकतंत्र सिर्फ लोकसभा-विधानसभा चुनाव तक सीमित रह गया है, न तो सेकुलरिज्म बचा है और न ही समाजवाद। अकाली दल मुख्यतः सिक्खों की पार्टी है, जिन्होंने खुद 1984 के दंगे की क्रूरता झेली है। इस बार के दंगा में मरने के मुहाने की ओर घसीटे जा रहे मुसलमानों की जान कुछ सिक्खों ने अपनी जान जोखिम में डालकर बचाई, क्योंकि वे भी कभी ऐसी घटनाओं आत्मभुक्त साक्ष्य थे। सरदार जिंदर सिंह सिद्धू द्वारा जियाउद्दीन की जान आक्रामक भीड़ से बचाने की जो वीडियो-तस्वीर सामने आई, वह मानवता की उत्कृष्ट मिसाल पेश करती है। इसी प्रकार एक दूसरे सिक्ख ने अनेक लोगों को सही-सलामत सुरक्षित स्थान तक पहुँचाया।

जिस प्रकार इस दंगे में स्वदेशी तीव्र मारक गुलेल, पेट्रोल बम, तेजाब, कट्टे, पिस्टल, गोली-कारतूस, सरिया, पत्थर, ईंट-रोड़े, लाठी-डंडे, कंचे आदि का जखीरा इस्तेमाल हुआ, वह घंटे-दो घंटे की तैयारी से संभव नहीं लगता, खासकर तब, जब माहौल खराब हो; पुलिस और दूसरे पक्ष हर हलचल पर नजर रखे हुए हों। इन सबके बावजूद, उसी पक्ष के लोगों के ज्यादा मरने और जानमाल के नुकसान की खबर है, जिन पर दंगा भड़काने और पहले से तैयारी करने की बात सामने आ रही है। ऐसे में स्वाभाविक सवाल उठता है कि 'आ बैल मुझे मार' की स्थिति पैदा करने वालों ने अपने लोगों को मरवाने की तैयारी कर रखी थी? जाहिर है कि जिन लोगों ने अपने बयानों और करतूतों से दंगा भड़काने का काम किया है, उन्होंने गरीब-बेसहारा लोगों का नुकसान अधिक किया है। समाजसेवा करने वाले एवं रिक्शा चलाने वाले के बेटे, कूड़े बीनने वाले, ठेले वाले, आटो वाले मारे गए हैं और आग भड़काने वाले आग भड़काकर निकल गए। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर ने ठीक ही लिखा है -

वह कौन रोता है वहाँ -
इतिहास के अध्याय पर,
जिसमें लिखा है, नौजवानों के लहू का मोल है
प्रत्यय किसी बूढ़े, कुटिल नीतिज्ञ के व्याहार का;
जिसका हृदय उतना मलिन जितना कि शीर्ष वलक्ष है;
जो आप तो लड़ता नहीं,
कटवा किशोरों को मगर,
शोणित बहा, लेकिन गई बच लाज सारे देश की?

दिल्ली विधानसभा चुनाव की खुमारी भीषण दंगे की भेंट चढ़ गई। इस दौरान प्रचारकों के तरह-तरह बयान सामने आए, जिनके कारण उनके चुनाव प्रचार करने पर रोक भी लगाई गई। राजनीतिक गलियारों में इन बयानों को भी दंगे का कारण बताया जा रहा है, पर आजकल चुनाव में यह सब आम हो गया है, बेशक ऐसे बयानवीरों के चुनाव लड़ने पर प्रतिबंध लगा देना चाहिए। अब अपने-अपने हिसाब से ऐसे बयानों का औचित्य और दूसरों के बयान को नफरत फैलाने वाला बताया जा रहा है। दिल्ली भाजपा के अध्यक्ष मनोज तिवारी ने ठीक ही पूछा है कि क्या 'हेट स्पीच' है और क्या नहीं - यह कौन तय करेगा? इसी प्रकार देश का गद्दार कौन है - यह कौन तय करेगा? लेकिन गद्दार बताना और खुद ही गाली-गोली मारने का आदेश देना क्या बताता है? क्या यह सब करने वाले देशभक्त इसलिए हो गए कि किसी खास पद पर हैं या फिर किसी खास पार्टी से जुड़े हैं अथवा किसी खास समुदाय से आते हैं? इन सारी चीजों पर निर्णय करने के लिए न्यायालय बना है चाहे कोई उससे सहमत हो या न हो, पर 'अपनी ढफली अपना राग' अलापने से समस्या का समाधान संभव नहीं। जो लोग न्यायालय के निर्णय को भी उचित नहीं मानते, उन्हें जनता के बीच अपना मामला ले जाने और जनमत बनाने का अधिकार है। जन जागरूकता से सब कुछ बदलना संभव है।

सेकुलरिज्म के अंतर्गत धार्मिक समुदाय अपने-अपने धर्म के प्रचार-प्रसार करने के लिए स्वतंत्र तो हैं, पर उनका कोई कार्य दूसरे धर्म के खिलाफ नहीं जाना चाहिए। जहाँ यह दूसरे धर्म के विरुद्ध जाता है, वहाँ पंथनिरपेक्षता अर्थात् 'सर्वधर्म समभाव' बिखर जाता है। छल-प्रपंच और भय-आतंक से धर्म के विस्तार करने की डींग मारने वाले वर्ग का अधार्मिक स्वरूप विकसित होता है; किंतु उसके क्षरण में सबकी भलाई सन्निहित रहती है, जबकि धर्म पक्ष संकीर्ण-संकुचित होता जाता है। जो लोग दूसरे धर्म के खिलाफ जहर उगलते हैं, उन्हें जानना चाहिए कि भारत की नियति यही है कि अनश्वर-शाश्वत सनातनता में सबको यहीं रहना है। इसमें गैर-सनातनी समझे जाने वालों को भी सम्मानजनक स्थान प्राप्त है। धर्म को सबसे बड़ी चीज मानने वालों को भी समझना चाहिए कि पंथनिरपेक्षता तो एक बार किसी धर्म

के प्रति शुष्क व्यवहार और अन्याय कर सकता है, पर धर्म यदि आत्मिक-आध्यात्मिक मूल्यों से जुड़कर वास्तव में धर्मरूप में है तो वह अत्याचारी बर्ताव कदापि नहीं कर सकता, प्रतिकारात्मक प्रतिरोध की बात अलग है।

भूत का भूत

भूत बीता हुआ कालरूप है; दूसरे शब्दों में, समय बीतने के कारण ही बाकी सब कुछ बीतता है। आदमी भी गुजरकर भूत बनता है, यद्यपि यह जरूरी नहीं है। भूतकाल और भूत-प्रेत में एक बात की समता है कि ये गौरव-स्मृति की परिणतियाँ-दुष्परिणतियाँ हैं। भूत जब भूतपूर्व बनकर किसी पदनाम के साथ जुड़ता है, तो निवृत्त हुए पद को कम ही सही, वर्तमान रखने का अभ्यास दर्शाता है। यह पद से मुक्त होने का नहीं, उसे विद्यमान रखने का निनाद है। आजकल 'भूतपूर्व' में 'भूत' शब्द लुप्त हो गया है, केवल 'पूर्व' शब्द ही ज्यादा चलन में है। 'पूर्व' पहले का, तो 'भूतपूर्व' काफी पहले का वाचक है। किसी जीवित व्यक्ति के पदनाम के साथ यदि भूतपूर्व लगाया जाए तो इसका व्यंग्यार्थ होगा कि व्यक्ति अधिक उम्र का, जीवन के अंतिम पड़ाव में है, अतः उसकी उपयोगिता अब न के बराबर बची होगी; जबकि पद के पहले 'पूर्व' उपसर्ग ताजे रिटायरमेंट का द्योतक होने के कारण पूर्व पद के यथासंभव प्रभाव रहने की ध्वनि देता है।

कार्यकाल समाप्ति के बाद व्यक्ति भूतपूर्व हो जाता है, जबकि जीव मरकर भूत बनते हैं; लेकिन यह आवश्यक नहीं कि भूत और भूतपूर्व हुए आदमी का पुनर्वास नहीं होता। पुनर्जन्म से आदमी के भूत बनने की संभावनाओं पर विराम लगता है और भूतपूर्व हुए को कोई नया पद मिलता है तो पुराने पद का भूत शिथिल पड़ता है। उदाहरण के तौर पर, भूतपूर्व गृह सचिव आजकल भारत सरकार में मंत्री हैं, अब उनका पहले वाला पद नए पद में तिरोहित हो चुका है। भविष्य में जब वे मंत्री पद से मुक्त भी होंगे तो अधिक संभावना यही है कि भूतपूर्व गृह सचिव की बजाय भूतपूर्व मंत्री, भारत सरकार ही लिखा जाएगा। सेवानिवृत्त अधिकारी जब राज्यपाल या मंत्री पद पर आसीन होता है तो वह अपने पहले के पद को नहीं ढोता, क्योंकि उसका वर्तमान ज्यादा दैदीप्यमान है। डॉ. सत्यपाल सिंह, हरदीप पुरी, एस. जयशंकर, बालाकृष्णन, अजित डोभाल जैसे अनगिनत नाम हैं, जो अपने पहले के कार्यक्षेत्र में सेवा पूर्ण करके बड़े राजनीतिक ओहदे पर पहुँचे हैं। वैसे भी जिसका वर्तमान नहीं होता, उसी के पदनाम के आगे पूर्व या भूतपूर्व लिखा जाता है, वह खुद भी भूत में अपना वर्तमान देखता है। आज हाथी नहीं है, इसलिए बाबा के पास या पहले कभी हाथी था - यह बताना अतीत का गौरवबोध है। यदि आज भी हाथी हो तो कहा जाता है कि आज से नहीं, अनेक पीढ़ियों से हाथी रखने का रिवाज है।

यों भूत भय ही अधिक माना जाता है। वह अदृश्य रहकर नफा-नुकसान करता-कराता है। दिखता नहीं, शायद इसीलिए बहुत लोग भूत के अस्तित्व के बारे में जानकर भी मान नहीं पाते, उसके होने-न होने को लेकर आशंकित रहते हैं। पूर्व या भूतपूर्व पदनाम का भी अद्यतन अस्तित्व नहीं होता, वह पुराने की स्मृति भर दिलाता है। इधर भूत-पिशाच मृत्यु के बाद बेचैन आत्माओं के प्रकोप का पर्याय है। देह से प्राण के निकल जाने पर आत्माएँ भूतात्मा-प्रेतात्मा के रूप में दर-दर भटकती हैं, ठीक उसी प्रकार किसी पद के अवसान के साथ उसकी छाया के तौर पर भूत पीछे लगा रहता है, भूत का भूत परेशान किए रहता है। कई बार यह जिन्न की तरह बढ़िया करने में सफल होता है और अनेक बार स्वभाववश नुकसान भी करता है। भूतपूर्व की पदवी जिंदा रहने तक ही नहीं, बल्कि मरणोपरांत भी अक्षय है। सारे पद अस्थायी हैं; पाँच साल, दस साल, पंद्रह साल या साठ-पैंसठ-सत्तर या कुछ परिस्थिति में विशेषकर राजनीतिक हलकों में और-ऊपर तक संभव हो सकते हैं, लेकिन उनसे देर-सबेर विलग होना पड़ता है। दूसरी ओर, जो पूर्व या भूतपूर्व का स्थान है, वह शाश्वत एवं सदाबहार है और इस प्रकार स्थायी भी। उस भूतपूर्व पद से जीवन भर पेंशन, यात्रा भत्ता, स्वास्थ्य-आवास की सुविधा हासिल होती है, परंतु न्यूनतम निर्धारित कार्यावधि पूरी करने के उपरांत ही।

पहले कभी जो था, पर अब वह नहीं है, उसी साये की उपस्थिति-अनुभूति भूत है। जो वर्तमान में है, उसका भूत में रूपांतरण नहीं होता; यद्यपि 'जिंदा भूत', 'नरपिशाच' जैसे लाक्षणिक प्रयोग मिलते हैं। 'जिंदा भूत' से नवाजा जाने वाला शख्स प्रेतात्मा समान सिरफिरे-अटपटे आचरण करता है। वह जीवित रहने के कारण मृतक भूत से भिन्न ठहरता है। बहरहाल, आदमी के व्यतीत जाने का मामला हो या फिर पदों से मुक्त हो जाने का सवाल, भूत हो जाने का संत्रास घेरे रहता है। मृत्यु को आसन्न भाँपकर खौफ छाता है, वैसे ही पद से निवृत्ति का समय ज्यों-ज्यों समीप आता है, त्यों-त्यों उसके भूत-अतीत हो जाने की कसक व्याप्त होती जाती है। लेकिन भूत में उस शाश्वत विचारणा को स्थापित करने का सामर्थ्य है, जिसके अंतर्गत वह हर चीज जो वर्तमान है, उसका भूत होना निश्चित है। जो वर्तमान है, उसका कुछ-न-कुछ भविष्य भी है चाहे वह अच्छा हो या बुरा। इस प्रकार सामान्य कालबोध कि जो बीत गया, वह पहले है; जो वर्तमान है, वह चालू है और भविष्य आगे-बाद में आएगा, यहाँ आकर गड़बड़ा जाता है। भूत, वर्तमान और भविष्य के खाने कमजोर लगते हैं, क्योंकि हर वर्तमान का भूत हो जाना ही उसकी वास्तविकता है; दूसरे भविष्य का ठिकाना नहीं, उसकी कोई निश्चितता एवं स्थायित्व भी नहीं। केवल भविष्य के भूत में सब चर-अचर को एक-न-एक दिन परिणत होना है। वह सब जो भविष्योन्मुख है, अंततः भूतोन्मुख है। काल का यह चक्र विस्मयकारी लगता है!

भूत के पद को वर्तमान में ढोने की कशिश उस सोने के पिंजड़े से मुक्त पक्षी की तरह की स्थिति है, जो रहा तो पिंजडे में, पर उसके सुनहरेपन से अभी भी सम्मोहित है। गुणगान तो खैर वर्तमान कर्म का भी नहीं होना चाहिए, अतीत के पदकर्म का तो बिलकुल नहीं। अतः पहले के 'बोझ' को लादे रखना बुद्धिमत्ता नहीं, क्योंकि इससे आदमी जो नहीं है, वह तो बताता है, पर जो अब है, वह नहीं बताता। क्या वह भूतपूर्व ही है, वर्तमान में कुछ नहीं, शून्य है? कुछ तो रहता ही है यदि जिंदा है तो। बस यही पहचान बनी है कि कोई पद पास था और वही पद सब थे, इसके अतिरिक्त कुछ और नहीं। परंतु यह ख्याल रखना अत्यावश्यक है कि पद से पहले, पद के साथ और पद के बाद सब मनुष्य ही हैं। जब तक जिंदा रहना है, उसी मनुष्यता के कुछ भले-बुरे रूप में और उसी की वजह से किसी पद तक आदमी

पहुँच पाता है। लेकिन विडंबना है कि अपने से भी बड़ा अपने पद को बना लिया गया। इसलिए पूर्व पद के अतिरिक्त अपनी कोई विशिष्ट पहचान बताने लायक नहीं लगती; बनाने की सोची नहीं, बनाने लायक सूझी भी नहीं। पद के जिन दायित्वों को निभाया गया था, वह व्यक्तिगत, सामाजिक, प्रशासनिक जरूरत-जिम्मेवारी थी, किंतु यदि उसकी सुविधाओं का अपनी आदमीयत के विस्तार में उपयोग नहीं किया तो उस पद पर रहना व्यर्थ चला गया। कुछ योग्यताएँ अर्जित की जाती हैं, तभी कोई पद मिलता है, इसलिए जिस होने के कारण पद हासिल हुआ था, उसको पुख्ता करने और पहले से बड़े कार्य के हेतु बनने का सतत प्रयत्न करना हर आदमी का कर्तव्य है।

अनेक स्वनामधन्य लोगों ने पद के बिना या पद पर रहते ऐसी पहचान बनाई, जिससे उनके नाम के साथ पदनाम का प्रयोग हो या न हो, उनकी ख्याति पर रत्ती भर भी असर नहीं पड़ता। महात्मा गाँधी, सुभाषचंद्र बोस, श्रीअरविंद, जयप्रकाश नारायण, अन्ना हजारे आदि अपने जीवन में एक या एक से अधिक पदों पर रहे, पर इन्होंने हर पद से अपने को बड़ा बना लिया, अतः इनके नाम के साथ पदनाम का उल्लेख हो या न हो, इनके व्यक्तित्व-भार पर अंतर नहीं पड़ता, उल्टे वह हल्का ही लग सकता है। यह सही है कि प्रसिद्धि कुछ को ही मिलती है, पर लोग अपनी आदमीयत को पुष्ट तो कर ही सकते हैं और फिर प्रसिद्धि का इंसानियत से खास लेना-देना नहीं। इसलिए भूतपूर्व कहलाने के मोहपाश से विमुक्त होकर, जो कार्य पद के दायित्वों के निर्वहण के समय समयाभाव-व्यस्तता या ध्यान में न आने के कारण संपन्न नहीं हो पाए, वह पूर्व या भूतपूर्व हो जाने के उपरांत किया जा सकता है, परंतु बाद में भी परंपरागत संकीर्णताओं के कारण वही सूझता है, जो अब तक सूझता रहा है। पुराने के अहं, स्मृति और बोझ का लबादा उतारकर और मनुष्यता के आत्मिक उद्देश्यों से सन्नद्ध होकर जीवन को सुख-चैन से सार्थक किया जा सकता है।

लिखना क्रियाहीनता का कार्य है!

लिखना कभी शगल नहीं रहा और न ही कभी इसकी अधिक उपयोगिता लगी, किंतु जब कर्मक्षेत्र में सीधे कुछ विशेष नहीं होता और उसी समय अनेक ज्वलंत मुद्दे ध्यानाकर्षण के उपयुक्त लगने लगते हैं, जिसकी कसक कार्यरूप लेने के निमित्त अवलंब नहीं ढूँढ़ पाती, तब वह लेखकीय अभिव्यक्ति के रूप में सामने आती है। इसलिए लेखन कुछ हद तक क्रियाहीनता का साक्ष्य है और कार्य भी। हालाँकि बहुतों के लिए यह सब कुछ है, जिसके कारण पूरे पाठकीय जगत को बहुत-कुछ पठनीय प्राप्त होता है। स्वाभाविक है कि जो लेखन से औरों को प्राप्त हो सकता है, वह सब लेखक को भी स्वतः व प्रथमतः सुलभ है।

लेखमालिका को पुस्तकाकार रूप देना श्रमसाध्य कार्य है, क्योंकि लेख प्रायः भिन्न-भिन्न विषयों से संबंधित और अलग-अलग समय पर लिखे हुए होते हैं। इस पुस्तक में भी पिछले पाँच-छह वर्षों में प्रकाशित लेखों की शृंखला है, वैसे इसमें काफी पहले के भी कुछएक लेख सम्मिलित हैं तो दूसरी ओर, इस अंतराल में लिखे गए आधे से अधिक लेख स्थान पाने से रह भी गए हैं। तरह-तरह के लेखों में अंतर्सूत्रता, तारतम्यता तथा सन्नद्धता बनाना सहज संभव तो नहीं, किंतु यह अपेक्षित है ताकि पठन की क्रमबद्धता-गतिमानता अवरुद्ध न हो जाए, विचारक्रम और भाषाक्रम की अंतर्लयता विद्यमान रहे; अन्यथा 'कहीं की ईंट कहीं रोड़ा' के संयुक्तांक के अतिरिक्त कुछ नहीं होगा। लेखों को समयानुरूप अद्यतन करके पुस्तकीय प्रवाह के अनुरूप ढाला गया है, क्योंकि समय बीतने के साथ बहुत-सारी चीजें निरर्थक होकर कूड़े में तब्दील होती जाती हैं और अत्यल्प अवशेष महत्त्वपूर्ण रह जाता है; पर उसका समय भी किसी-न-किसी रूप में नियत होता है, चाहे वह तत्काल अनुमानित न हो पाए अथवा उसके आकलन की आवश्यकता महसूस न हो।

प्रस्तुत पुस्तक के अधिकतर लेख समसामयिक मुद्दों को लेकर लिखे गए हैं, तथापि उन्हीं छोटी-छोटी घटनाओं-चुनौतियों की पीठिका पर दीर्घकलिक संकल्पनाओं की सैद्धांतिकी गढ़ने का यत्न है। समय-संदर्भ बदलते हैं तो चिरकालिक विचारणाएँ नए रूपाकार में व्यवहृति बनती हैं। तात्कालिकता के आलोक में दीर्घकालिक भावों का अन्वेषण और चिरकालिकता के परिप्रेक्ष्य में परिवर्तित होते परिदृश्यों को चिह्नित करने का प्रतिमान निखरता है। 'प्रचलित अनुकूलित मानसिकता' से विलग होने के कारण स्थान-स्थान पर विचार अपूर्व लग सकते हैं, किंतु यह अनिवार्य लेखकीय धर्म है। इसका मूल हेतु बिलकुल स्वाभाविक है कि यदि सब कुछ बने-बनाए साँचे और बँधी-बँधाई परिपाटियों में ही कहना या समझना अभिप्रेत हो तो फिर अलग से लिखने का औचित्य नहीं। इसलिए विचारावली कहीं प्रकर्ष पर पहुँचकर अतिमत बन जाते हैं, तो कुछ जगह प्रतिलोमी तौर पर अतिगत को प्राप्त होते हैं; लेकिन सकारात्मक दृष्टिबोध का संपोषण सर्वत्र और सदैव करने का मानस रहा है, अच्छे-बुरे की परख-शक्ति विकसित करके स्वविवेक की निर्मिति और संभाव्य चेतना का द्वार खोलना चरमोद्देश्य है। यह सब भार-बोझ न बन जाए, इसलिए व्यंग्यात्मक पुट और हास्यपूर्ण लहजों का उपयोग तो किया गया है, किंतु उपहास लेशमात्र भी नहीं है। युगधर्म को टटोलने के क्रम में समसामयिक इतिहास और जीवन के विकासक्रमों की जो झलक मिली है, वह सूक्ष्म रूपेण परखने पर विवेकसंगत अनुभूत होगी, भले ही स्वार्थसम्मत न लगे।

कभी-कभी एक लेख की पूर्णाहुति पर दूसरे लेख-विषय तुरंत सूझ जाते हैं तो कई बार बाद में, बहुत बाद में मिलते हैं। यों भी अगला क्या लिखा जाएगा, वह प्रायः निश्चित नहीं होता। लेखावली कोई महाकाव्य भी नहीं, जिसमें हर लेख-अध्याय के अंत में अगले विषय-अभिव्यक्ति के आभास देने की अपेक्षा रहती हो। फिर निबंध-संग्रह की क्रमागत सुव्यवस्था लेखों के कालक्रम से भिन्न बनती है। प्रत्येक लेख अपने-आप में संपूर्ण है, एक के विराम पर अगले लेख का साक्षात्कार होता है। सभी कार्य-मार्गों में अवरोधक होते हैं, पर जहाँ विराम के बैरियर-ही-बैरियर हों, पग-पग पर काँटों के कतार-व्यूहों की मायावी रणनीतियाँ पल-पल परिवर्तित होती रहती हों, जो वैसी ही नहीं दिखतीं, जैसी हैं और इस तरह विराम-अवरोधकों से सारे स्थान पटे पड़े हों; वहाँ उनकी हाट-पंक्तिका पर वीथिका बनाकर सफर तय करने की कशिश है 'विराम वीथिका।' यह प्रतिस्थापित विचार-सरणियों के बीच अपनी राह पर संचेतना-धारा का प्रवाह प्रशस्त करने में सहायक हो सके तो इसकी सार्थकता सिद्ध होगी। *(शीघ्र प्राकाश्य पुस्तक 'विराम वीथिका' की पूर्वपंक्तिका से)*